८

बंध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव

यह आत्मा अनन्तकाल से बन्धन में बँधी चली आ रही है। बन्धन भी एक नहीं, बल्कि अनन्तानन्त बन्धन आत्मा पर लगे हुए हैं। ऐसी बात भी नहीं है कि आत्मा उन बन्धनों को पुरुषार्थहीन बनकर चुपचाप सहती आई है, बल्कि वह उन्हें तोड़ने के प्रयत्न सदा-सर्वदा करती रही है। भले ही भोग कर ही क्यों न तोड़ा हो, पर तोड़ा जरूर है। इस प्रकार यह आत्मा बन्धन और मोक्ष के बीच से गुजरती रही है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि ये बन्धन आत्मा में कहाँ से आए हैं? ये शरीर, ये परिवार और ये ऐश्वर्य आदि कहाँ से जुटाए गए हैं? क्या इन्हीं बाहरी पदार्थों ने आत्मा को बाँध रखा है? या अन्दर के काम-क्रोध आदि ने उसके गले में फंदा डाल रखा है? इन दोनों––बाहरी और भीतरी बन्धनों के स्वरूप को समझे बिना 'आत्मा के बन्धन क्या हैं?' इस प्रश्न का उत्तर ठीक तरह नहीं समझा जा सकता। और जब तक बन्धन का स्वरूप नहीं समझा जाता, तब तक मोक्ष का स्वरूप भी नहीं समझा जा सकता। जैसा कि कहा गया है––"बन्धन का स्वरूप समझने के बाद ही उसे तोड़ने का प्रयत्न किया जा सकता है––**बुज्झिज्जित्ति तिउट्टिज्जा बन्धनं परिजाणिया।**"––सूत्रकृतांग, १, १,

बन्धन क्या है?

बन्धन का स्वरूप समझने के लिए हमें मूल कर्म और उसकी उत्तरकालीन परिणति को समझना होगा। कर्म के दो रूप हैं––एक कर्म, दूसरा नोकर्म। पहला कर्म है, दूसरा वास्तव में तो कर्म नहीं है, किन्तु कर्म जैसा ही लगता है। इसलिए साधारण भाषा में उसको नोकर्म कह दिया जाता है। शरीर, परिवार, धन, सम्पत्ति आदि सब नोकर्म हैं। नोकर्म भी दो प्रकार के होते हैं––एक बद्ध नोकर्म, दूसरा अबद्ध नोकर्म। बद्ध का अर्थ है––बँधा हुआ और अबद्ध का अर्थ है––नहीं बँधा हुआ। संसार दशा में जहाँ शरीर है, वहाँ आत्मा है और जहाँ आत्मा है, वहाँ शरीर है। दोनों दूध और पानी की तरह परस्पर मिले हुए हैं, एक-दूसरे से बँधे हुए हैं। इसलिए शरीर आत्मा से बँधा हुआ होने के कारण बद्ध नोकर्म है। यद्यपि दोनों का स्वरूप अलग-अलग है, सत्ता अलग-अलग है, किन्तु अनन्तानन्त काल से शरीर में आत्मा का निवास रहा है, एक शरीर छोड़ा, तो दूसरा मिल गया और दूसरा छोड़ा, तो तीसरा मिल गया। एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की ओर जाते समय, मध्य के समय में भी, जिसे विग्रह गति कहते हैं, तैजस और कार्मण शरीर साथ रहते हैं। संसारी आत्मा का ऐसा एक भी क्षण नहीं है, जबकि वह बिना किसी भी प्रकार के शरीर के संसार में रही हो। इस प्रकार शरीर आत्मा के साथ बद्ध है। अतः शास्त्रकारों ने उसे बद्ध नोकर्म कहा है।

अबद्ध नोकर्म वे हैं, जो आत्मा के साथ बद्ध नहीं है। शरीर की तरह वे प्रत्येक समय आत्मा के साथ सम्पृक्त नहीं रहते। उनका कोई भी निश्चय नहीं होता कि कहाँ साथ रहें, कहाँ नहीं, जैसे कि धन, मकान, परिवार आदि शरीर के समान बद्ध रूप में सदा साथ नहीं रहते। ये सब आत्मा में दूध और पानी की तरह एकमेक संपृक्त हो कर भी नहीं रहते, अपितु पृथग्भाव से रहते हैं। अतः इन्हें अबद्ध नोकर्म कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर बन्धन नहीं है :

एक प्रश्न यह उठता है कि यदि धन-संपत्ति, परिवार आदि अबद्ध नोकर्म आत्मा को नहीं बाँधते हैं, तो क्या शरीर आदि बद्ध नोकर्म आत्मा को बाँधते हैं ? आखिर आत्मा किसके बन्धन में बँधी है ? इसका उत्तर होगा कि शरीर तो जड़ है। यदि इस शरीर ने आत्मा को बाँधा है, तो यह कहना होगा कि गीदड़ की ठोकरों से शेर लुढ़क गया है। जो शेर समूचे जंगल पर अपना प्रभुत्व जमाए रखता है, वह गीदड़ की हुँकार के सामने पराजित हो गया है। जिस प्रकार अबद्ध नोकर्म में आत्मा को बाँधने की शक्ति नहीं है, उसी प्रकार इस बद्ध नोकर्म रूप शरीर में भी आत्मा को बाँधने की शक्ति एवं सामर्थ्य नहीं है। आत्मा, जो अनन्त पौरुषशाली तत्त्व है, वह इनके चंगुल में कभी नहीं फँस सकती।

इस पर फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि शरीर आत्मा को नहीं बाँधता तो, फिर आत्मा को कौन बाँधता है ? क्या इन्द्रियाँ, आत्मा को बाँधती हैं ? ये कान, ये आँखें, ये जिह्वा---क्या आत्मा इन सबके बंधन में बँधती है ? शरीर और इन्द्रिय आदि में यह शक्ति नहीं है कि वे अनन्त बलशाली आत्मा को बाँध लें। यदि इनमें यह शक्ति होती तो भगवान् महावीर आदि वीतराग आत्माओं को भी बाँध लेते। किसी को मुक्त होने ही नहीं देते। यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, यह धरती, यह आकाश तथा नोकर्म के फल को भोगने के रूप में और भी, सिंहासन, छत्र, चामर आदि कितने ही पदार्थ उनके पास रहे, फिर भी इन सभी पदार्थों ने भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरों को क्यों नहीं बाँध लिया ?

बन्धन भाव में है :

जहाँ तक बंधन का प्रश्न है, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि बन्धन न तो शरीर में है, न इन्द्रियों में है, और न बाहर के किसी द्रव्य में ही है। वे सब जड़ हैं। बन्धन और मोक्ष देने की क्षमता जड़ में कभी हो नहीं सकती। बन्धन तो आत्मा के अपने ही विचार में है, भाव में है। जहाँ तक द्रव्य, द्रव्य है, वहाँ तक बन्धन नहीं है, परन्तु ज्योंही द्रव्य भाव की पकड़ में आया नहीं कि बन्धन हो गया। भाव से ही बन्धन होता है, भाव से ही मुक्ति। इसलिए यह ठीक कहा गया है---"**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**"

मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है। बन्धन शरीर आदि से नहीं होता, बल्कि इनके निमित्त से मन में जो विकल्प होते हैं, जो राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, उन विकल्पों और परिणामों के कारण बन्धन होता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी बन्धन नहीं हैं, किन्तु इन्द्रियों के द्वारा जो रूपादि का बोध और जानकारी होती है, और उसके पश्चात् जो भावना में विकृति आती है, राग-द्वेष का संचार होता है, वह आसक्ति एवं राग-द्वेष का घेरा ही आत्मा को बन्धन में डालता है। उस घेरे में वह पदार्थ, जो कि राग-द्वेष के विकल्प का निमित्त बना, नहीं बँधता, किन्तु विकल्प करने वाली आत्मा बँध जाती है। अन्य पदार्थ पर आत्मा का अधिकार कभी नहीं हो सकता। यदि इन पर आत्मा का अधिकार होता, तो वह किसी भी अभीष्ट पदार्थ को कभी नष्ट नहीं होने देती। और तो क्या, शरीर तक पर अधिकार नहीं है। बचपन के बाद जवानी आने पर मनुष्य सदा जवान ही रहना चाहता है, परन्तु संसार की कोई भी शक्ति इस दिशा में सफलता प्राप्त नहीं कर सकी। शरीर के पर्याय प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, इन पर किसी का कोई अधिकार नहीं चल सकता। आज अनेक औषधियाँ, वैज्ञानिक अनुसंधान, इसके लिए हो रहे हैं। बड़े-बड़े मस्तिष्क इस चेष्टा में सक्रिय हैं कि मनुष्य अपने शरीर पर मनचाहा अधिकार रख सके, किन्तु आज तक भी यह संभव नहीं हो पाया है। जब अपने एकदम निकट के संगी-साथी बद्ध शरीर पर भी आत्मा का नियन्त्रण नहीं हो सकता, तो फिर धन, सम्पत्ति आदि अबद्ध नोकर्म की तो बात ही क्या है ? जब हमारे बिना चाहे भी आँख, कान, नाक और शरीर आदि के कण-कण जवाब देना शुरू कर देते हैं, तो बाहरी पदार्थ हमारे अनुकूल किस प्रकार होंगे ? यह हमारे मन का विकल्प ही है, जो कि सबको अपना ही समझ रहा है, शरीर आदि पर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों के साथ मेरापन का सम्बन्ध जोड़ रहा है। किन्तु, वास्तव में ये आत्मा के कभी नहीं होते। शरीर तथा इन्द्रिय आदि पर-पदार्थ आत्मा का न कभी अहित कर सकते हैं और न कभी हित। यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि मेरी रूप-दर्शक ये आँखें मुझे पतित कर रही हैं, तो यह बात ठीक नहीं है। आँखों में मानव का उत्थान और पतन करने की क्षमता है ही नहीं, यह क्षमता तो मानव की अपनी आत्मा में ही है। आँखें तो सिर्फ निमित्त बन सकती हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं।

आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर ने कहा है कि आँखें जब हैं, तो वे रूप को ग्रहण करेंगी ही। अच्छा या बुरा, जो भी दृश्य उनके सम्मुख आएगा, उसका रूप आँखें ग्रहण कर लेंगी। साधक बनने के लिए सूरदास बनना जरूरी नहीं है। किन्तु, आवश्यकता इस बात की है कि आँखों के सामने अच्छा या बुरा जो भी रूप आए, उसे वे ग्रहण तो भले ही करें, किन्तु उसके सम्बन्ध में राग-द्वेष का भाव न आए, मन में किसी प्रकार का दुर्विकल्प न हो, तो आँखों से कुछ भी देखने में कोई हानि नहीं है। इसी प्रकार कान हैं, तो जो भी स्वर या शब्द उसकी सीमा के अन्दर में होगा, उसे वह ग्रहण करेगा ही, सुनेगा ही। निन्दा और स्तुति, जय-जयकार और भर्त्सना---दोनों ही ध्वनियाँ कान में अवश्य आएँगी, किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष का विकल्प न उठना चाहिए। यही बात गंधादि ग्राहक घ्राण, जिह्वा, कर्ण, स्पर्शन इन्द्रियों के सम्बन्ध में है। यदि वास्तव में साधक अपने को तटस्थ वीतराग बना लेता है, तो संसार के कोई भी पदार्थ उसे बन्धन में नहीं डाल सकते। बन्धन तो निज के विकल्पों के कारण होता है। यदि अन्दर के भावों में राग-द्वेष की चिकनाई नहीं रहती है, तो बाह्य पदार्थों के रजकण उस पर चिपक नहीं सकते, फलतः उस आत्मा को मलिन ही नहीं कर सकते। इस प्रकार जैन-दर्शन का यह निश्चित मत है कि बन्धन का कारण एकमात्र भाव ही है, अन्य द्रव्य, वस्तु एवं पदार्थ नहीं।

मुक्ति का दाता कौन ?

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब बन्धन का कारण भाव है, तो मुक्ति का कारण भी कोई दूसरा नहीं हो सकता। जब बेचारे शरीर और इन्द्रियाँ बन्धन में नहीं डाल सकते, तो मुक्ति कैसे दिला सकते हैं ? शरीर में यह शक्ति है ही नहीं, भले ही वह तीर्थंकर का वज्रऋषभनाराच संहनन वाला शरीर ही क्यों न हो। समस्त विश्व में ऐसी कोई भी बाहरी शक्ति नहीं है, जो किसी आत्मा को बन्धन में डाल दे या उसे मुक्ति दिला दे। जैन एवं वेदान्त जैसे महान्-भारतीय दर्शन एक स्वर से यही कहते हैं---हे आत्मन् ! तेरी मुक्ति तेरे ही हाथ में है, तू ही बन्धन करने वाला है और तू ही अपने को मुक्त करने वाला भी है।

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद् विमुच्यते ।।"

यह आत्मा स्वयं ही कर्म करती है और स्वयं ही उसे भोगती है। अपने स्वयं के कर्मों के कारण ही संसार में भ्रमण करती है और स्वयं ही कर्मों से मुक्त होकर सदा के लिए मोक्ष रूप में विराजमान हो जाती है। इसलिए हमें मुक्ति के लिए कहीं बाहर भटकने की जरूरत नहीं है, वह इसी आत्मा में है, आत्मा ही मुक्ति का दाता है।

आत्मा ही मित्र है :

जब-जब आत्मा बाहर झाँकती है और जब-जब सुख, दुःख, शत्रु और मित्र को बाहर में देखने का विकल्प करती है, तभी आत्मा उन विकल्पों में उलझकर अपने आपको बन्धनों में फँसा लेती है। वास्तव में जब तक आत्मा का दृष्टिकोण बहिर्मुखी रहता है, तब तक उसके लिए बन्धन ही बन्धन है। जब वह बाहर में किसी मित्र को खोजेगी, तो एक मित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साथ बाहर में इसे शत्रु भी मिल जाएँगे। किन्तु जब अन्तर्मुखी होकर अपनी आत्मा को ही मित्र की दृष्टि से देखेगी, तो बाहर में न कोई मित्र होगा और न कोई शत्रु ही होगा। संसार के सभी बाह्य शत्रु और मित्र नकली प्रतीत होंगे। भगवान् महावीर ने भी कहा है—

"पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि ?"—आचारांग, १, ३, ३.

मानव ! तू ही तेरा मित्र है, बाहर के मित्रों को क्यों खोजता है ? जब आत्मा अपने स्वरूप में, ज्ञान, दर्शन, चारित्र के उपयोग में रहती है, तो वह अपना परम मित्र है और जब वह अपने स्वरूप से हटकर पर-भाव में चली जाती है, तो अपना सबसे बड़ा शत्रु भी वही होती है। जहाँ शुद्ध चेतना है, वहाँ वीतराग-भाव होता है और जो वीतराग-भाव है, वह अपना परम मित्र है और वही मोक्ष है। इसके विपरीत जहाँ आत्मा राग-द्वेष की लहरों में थपेड़े खाने लग जाती है, अशुद्धता में, मिलावट में चली जाती है, तो वही भाव अपना शत्रु-भाव है। इसलिए जब अपनी आत्मा को मित्र रूप में ग्रहण करने का प्रयत्न होगा, तभी वह मुक्ति का दाता हो सकेगी।

आत्मा की अनन्त-शक्ति :

कुछ लोगों का विचार है कि बन्धनों में बहुत अधिक शक्ति है, उन्हें तोड़ना अपने बलबूते से परे की बात है, किन्तु यह यथार्थ नहीं है। आत्मा में बन्धन की शक्ति है, तो मुक्त होने की भी उसी में शक्ति है। जैन-दर्शन के कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यही है कि प्रत्येक प्राणी अपनी स्थिति का स्रष्टा, अपने भाग्य का विधाता स्वयं ही है। वह स्वयं ही अपने नरक और स्वर्ग का निर्माण करता है और स्वयं ही बन्धन और मोक्ष का कर्ता है। जैन-दर्शन के इस कर्म-सिद्धान्त ने मनुष्य को बहुत बड़ी प्रेरणा, साहस और जीवन दिया था। किन्तु आगे चलकर कर्मों की इस दासता ने मानव को इस प्रकार घेर कर जकड़ लिया कि प्रत्येक क्षण उसके दिमाग में सिर्फ यही एक बात घूमती रहती है कि काम, क्रोध, अभिमान आदि बहुत बलवान हैं, इनसे छुटकारा पाना बहुत ही कठिन है। इस प्रकार कुछ व्यक्ति देवी-देवताओं और संसार के अन्य पदार्थों की दासता से मुक्त होकर भी कर्मों की दासता में फँस गए। वे यह भूल गए कि 'कर्म' की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो मन के विकल्पों का ही एक परिणाम है। अपने मन का विकल्प ही उसका स्रष्टा है। वह एक पग में जहाँ बन्धन डालता है, वहाँ दूसरे पग में वह मुक्त भी कर सकता है। कर्म-वर्गणाओं के अनन्त दल को आत्मीय-चेतना की शुद्ध शक्ति क्षणभर में नष्ट कर सकती है।

"वायुना चीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते।
मनसा कल्पते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्पते ॥"

साफ खुला आकाश है, सूर्य चमक रहा है, किन्तु अकस्मात् ऐसा होता है कि कुछ ही देर में घटाएँ घिर आती हैं और मूसल-धार वृष्टि होने लगती है। उन काली घटाओं को किसने बुलाया ? हवा ने ही न ? और वही हवा एक क्षण में उन सब घटाओं को बिखेरकर आकाश को बिल्कुल साफ भी तो कर देती है। अतः स्पष्ट है कि हवा से ही बादल बने और हवा से ही नष्ट हुए। इसी प्रकार मन का रागात्मक विकल्प कर्म के बादलों को लाकर आत्मा रूपी सूर्य पर फैला देता है और अन्धकार-ही-अन्धकार सामने छा जाता है। जब वर्षा-रूपी कर्मों का उदय होता है, तब व्यक्ति चीखता है, पुकारता है और अपने को बिल्कुल असहाय और दुर्बल मानने लग जाता है। किन्तु यह सब मन के एक विकल्प का ही प्रतिफल है। जब चैतन्य देव वीतराग-भाव की दूसरी करवट बदलता है, तो उन कर्म रूप घटाओं को छिन्न-भिन्न कर देता है, आत्मा रूपी सूर्य का तेज पुनः निखर उठता है। और, चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश हँसता नजर आता है। घटाओं के बनने में समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगता है, किन्तु बिखरने में अधिक समय नहीं लगता। इसी प्रकार आत्मा को स्वरूप में आने के लिए अधिक समय की अपेक्षा नहीं रहती, उसमें कोई संघर्ष या कष्ट की अधिकता नहीं रहती। विलम्ब और संघर्ष तो पर-रूप की ओर जाने में होता है। उसमें पुरुषार्थ की अधिक आवश्यकता रहती है। भगवान् महावीर ने कहा है कि आत्मा का एक समय-मात्र का शुद्ध ज्ञानरूप पुरुषार्थ कर्मों की अनन्तानन्त वर्गणाओं के समूह को समाप्त कर डालता है। किसी गुफा में हजारों, लाखों वर्षों से संचित अंधकार की राशि को सूर्य की एक किरण और दीपक की एक ज्योति क्षणमात्र में नष्ट कर देती है। इसके लिए यह बात नहीं है कि अंधकार यदि लाखों वर्षों से संचित है, तो प्रकाश को भी उसे समाप्त करने में उसी अनुपात में समय लगेगा। वह तो प्रथम क्षण में ही उसे विलीन कर देगा। यदि स्पष्ट शब्दों में कहा जाए, तो एक क्षण भी नहीं लगता। अपितु अंधकार का अंत और प्रकाश का उदय दोनों एक ही क्षण में होते हैं। वही अंधकार के नाश का क्षण है और वही प्रकाश के आविर्भाव का भी क्षण है।

पाप बड़ा है या पुण्य?

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि रात्रि के सघन अन्धकार की शक्ति अधिक है या सूर्य की एक उज्ज्वल किरण की? अवश्य ही सूर्य-किरण की शक्ति अधिक है। इसी प्रकार एक दूसरा प्रश्न है कि पाप बड़ा है या पुण्य बड़ा है? रावण की शक्ति अधिक है या राम की शक्ति? रावण की अतुल राक्षसी शक्तियों से लड़ने के लिए राम के पास केवल एक धनुष-बाण था। रावण को अभिमान था कि उसके पास अपार राक्षसी विद्याएँ हैं, मायाएँ हैं, समुद्र का घेरा है और अन्य भी अनेक भौतिक शक्तियाँ उसके पंजे के नीचे दबी हुई हैं। जबकि राम के पास केवल कुछ वानर हैं और एक छोटा-सा धनुष-बाण है। किन्तु क्या आप नहीं जानते कि उस छोटे से धनुष-बाण ने रावण की समस्त मायावी शक्तियों को समाप्त कर डाला, समुद्र को भी बाँध लिया और अन्त में सोने की लंका के अधिपति रावण को भी मौत के घाट उतार डाला। इसलिए पाशविक शक्ति की अपेक्षा, मानवीय (आत्मिक) शक्ति हमेशा प्रबल होती है। भगवान् महावीर ने कहा है कि तुम कर्मों की प्रबल शक्ति को देखकर घबराते क्यों हो? भयभीत क्यों होते हो? घबराये, कि खत्म! हिम्मत और साहस बटोर कर उनसे लड़ो। तुम्हारी आत्मा की अनन्त अपराजेय शक्तियाँ उन कर्मों को क्षणभर में नष्ट कर डालेंगी।

जैन-इतिहास में ऐसे अनेक सम्राट् हो गए हैं, जिनका जीवन अधिकतर भोग, विलास, हत्या, संग्राम आदि में ही व्यतीत हुआ। समुद्रों की छाती रौंद कर व्यापार करनेवाले सेठ, हत्या और लूट करनेवाले डाकू, जिनकी समूची जिन्दगी उन्हीं क्रूर कर्मों में व्यतीत हुई। परन्तु जब वे भगवान् के चरणों में आए, तो ऐसा कह कर पश्चात्ताप करने लगे कि भगवन्! जब आपके ज्ञान की जरूरत थी और जब हममें कुछ करने की सामर्थ्य थी, उस समय तो प्रभु! आपके दर्शन हुए नहीं। अब आखिरी घड़ियों में, जब शरीर जरा-जर्जर हो गया है, अशक्ति से घिर गया है, तब हम क्या कर सकते हैं? इन शब्दों के पीछे उनकी अन्तर्-आत्मा की वेदनाएँ झलक रही थीं। उनके मन का परिताप उनको कचोट रहा था। और शुद्ध स्वरूप की ओर प्रेरित कर रहा था। उनकी इस दयनीय स्थिति का उद्धार करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—

> **"पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमर-भवणाइं,**
> **जेसिं पिओ तवो, संजमो, य खन्ती य बंभचेरं च।"**
>
> —दशवैकालिक, ४, २८

भगवान् ने उन्हें आत्म-बोध कराया। तुम क्यों बिलखते हो? जिसे तुम बुढ़ापा समझ रहे हो, वह तो तुम्हारे शरीर को आया है, न कि उसके अन्तर् में जो प्रकाशमान आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उसको आया है? तुम ५०-६० वर्ष की जिन्दगी गुजर जाने की बात करते हो, किन्तु मेरी दृष्टि में तो तुम्हारी अनन्तानन्त काल की लम्बी जीवन-यात्रा की झलक है, जो अनन्त अतीत से आज तक तुम नहीं कर सके, वह अब नहीं कर सकते क्या? कर सकते हो। जो आत्मा का ज्ञान आज तक नहीं मिला, वह ज्ञान, वह प्रकाश, आज मिला है। अपने आत्म-स्वरूप का जागरण तुम में आज हुआ है। यह कोई साधारण बात नहीं है। जो आज तक नहीं हो सका, वह अब हो सकता है। आवश्यकता सिर्फ एक करवट बदलने की है, अंगड़ाई भरने की है। जब बन्धन को समझ लिया, उसकी अत्यन्त तुच्छ हस्ती को देख लिया, तो फिर तोड़ने में कोई विलम्ब नहीं हो सकता—

"बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।"

सूत्रकृतांग, १, १, १, १

बन्धन को समझो और तोड़ो! तुम्हारी अनन्त-शक्ति के समक्ष बन्धन की कोई हस्ती नहीं है।

बस, भगवान् महावीर का यह एक ही उपदेश उनके लिए आलोक-स्तम्भ बन गया और जीवन की अन्तिम घड़ियों में उन्होंने वह कर दिखाया, जो अनन्त जन्म लेकर भी नहीं कर सके थे। बन्धन-मुक्त होने में उन्हें कितनी देर लगी, बहुतों को तो कुछ भी नहीं।

सारांश यह है कि बंधन का कर्ता आत्मा ही बंधन को तोड़ने वाला है। इसके लिए अपने स्वरूप को, अपनी शक्ति को जगाकर प्रयत्न करने की आवश्यकता है, बस, मुक्ति तैयार है। और मुक्ति प्राप्त करने पर चौरासी लाख योनियों में भटक कर बार-बार प्राप्त होने वाले जन्म और मृत्यु के अपार दुःखों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है।

वह मुक्तावस्था कब आती है? वह तब आती है, जब प्राणी अपने अन्तर्-देव की पहचान कर लेता है। अन्तर्-देव की पहचान होते ही व्यक्ति स्वयं परमात्मा बन जाता है। परमात्मरूप प्राप्त करने पर स्वयं आत्मदेव बन जाता है। और आत्मदेव की स्थिति पर पहुँच कर आत्मा सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि इन समस्त बंधनों से मुक्त सर्वज्ञ वीतराग पद को प्राप्त करने में सहज समर्थ होता है। मुक्ति का यही प्रशस्त द्वार है।

मुक्ति का साधन:

जैन-धर्म के अनुसार आत्मा शरीर और इन्द्रियों से पृथक् है। मन और मस्तिष्क से भी भिन्न है। वह जो कुछ भी है, इस मिट्टी के ढेर से परे है। वह जन्म लेकर भी अजन्मा है और मर कर भी अमर है।

कुछ लोग आत्मा को परमात्मा या ईश्वर का अंश कहते हैं। परन्तु, वह किसी का भी अंश-वंश नहीं है, किसी परमात्मा का स्फुलिंग नहीं है। वह तो स्वयं पूर्ण परमात्मा, विशुद्ध आत्मा है। आज वह बेबस है, बे-भान है, लाचार है, परन्तु जब वह मोह-माया और अज्ञान के परदों को भेद कर, उन्हें छिन्न-भिन्न करके अलग कर देगा, तो अपने पूर्ण परमात्म-स्वरूप में चमक उठेगा! अनन्तानन्त कैवल्य-ज्योति जगमगा उठेगी उसके अन्दर!

भारतीय-दर्शनों ने, जिनका मूलस्वर प्रायः एक ही है। किन्तु, अपनी बात को कहने की जिनकी शैली भिन्न-भिन्न है, प्रश्न उठाया गया है कि मोक्ष एवं मुक्ति का मार्ग, उपाय, साधन एवं कारण क्या है? यह प्रश्न बहुत ही गम्भीर है। प्रत्येक युग के समर्थ आचार्य ने अपने युग की जन-चेतना के समक्ष इसका समाधान करने का प्रयत्न किया है। किन्तु जैसे-जैसे युग आगे बढ़ा, वैसे-वैसे वह प्रश्न भी आगे बढ़ता रहा, और हजारों वर्ष पहले, जैसा प्रश्न था, वैसा प्रश्न आज भी है। भौतिकवादी-दर्शनों को छोड़कर समग्र अध्यात्म-वादी-दर्शनों का साध्य एक ही है—मोक्ष एवं मुक्ति। साध्य में किसी प्रकार का विवाद नहीं है, विवाद है केवल साधन में। एक ने कहा है—मुक्ति का एकमात्र साधन ज्ञान ही है। दूसरे ने कहा है—मुक्ति का एक मात्र साधन, भक्ति ही है। और, तीसरे ने कहा है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्ति का एकमात्र साधन कर्म है। मैं विचार करता हूँ कि एक ही साध्य को प्राप्त करने के लिए, उसके साधन के रूप में किसी ने ज्ञान पर बल दिया, किसी ने भक्ति पर बल दिया और किसी ने कर्म पर बल दिया। संसार में जितने भी साधना के मार्ग हैं, क्रिया-कलाप हैं अथवा क्रिया-काण्ड हैं, वे सब साधना के अलंकार तो हो सकते हैं, किन्तु उसकी मूल आत्मा नहीं। यहाँ मेरा उद्देश्य किसी भी पंथ का विरोध करना नहीं है, बल्कि मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जो कुछ भी किया जाए, सोच-समझ कर किया जाए। प्रत्येक साधक की रुचि अलग-अलग होती है, कोई दान करता है, कोई तप करता है और कोई सेवा करता है। दान, तप और सेवा तीनों धर्म हैं, किन्तु कब? जबकि विवेक का दीपक घट में प्रकट हो गया हो। इसी प्रकार कोई सत्य की साधना करता है, कोई अहिंसा की साधना करता है और कोई ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की साधना करता है। किसी भी प्रकार की साधना की जाए, कोई आपत्ति की बात नहीं है, परन्तु ध्यान इतना ही रहना चाहिए कि वह साधना विवेक के प्रकाश में चलती रहे। बाहर में अलग-अलग राह पर चलना भी कोई पाप नहीं है। यदि आत्मा के मूलस्वरूप की दृष्टि को पकड़ लिया है, तो जिस व्यक्ति के हृदय में विवेक के दीपक का प्रकाश जगमगा उठा है, वह जो भी साधना करता है, वह उसी में एकरूपता, एकरसता और समरसता प्राप्त कर लेता है। जीवन में आत्म-लक्षी समरस-भाव की उपलब्धि होना ही, वस्तुतः सम्यक्-दर्शन है।

अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में विशुद्ध ज्ञान का बड़ा ही महत्त्व है। भारत के अध्यात्म-वादी-दर्शनों में इस विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है कि ज्ञान भी मुक्ति का एक साधन है। वेदान्त और सांख्य एकमात्र तत्त्व-ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान को ही मुक्ति का साधन स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ दर्शन केवल भक्ति को ही, मुक्ति का सोपान मानते हैं और कुछ केवल क्रिया-काण्ड एवं कर्म को ही मुक्ति का कारण मानते हैं। जैन-दर्शन का कथन है कि तीनों का समन्वय ही, मुक्ति का साधन हो सकता है। इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है कि अज्ञान और वासना के सघन जंगल को जलाकर भस्म करने वाला दावानल ज्ञान ही है। ज्ञान का अर्थ यहाँ पर किसी पुस्तक या पोथी का ज्ञान नहीं है, बल्कि अपने स्वरूप का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। "मैं आत्मा हूँ" यह सम्यक्-ज्ञान जिसे हो गया, उसे फिर अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु, यह स्वरूप का ज्ञान भी तभी सम्भव है, जबकि उससे पहले सम्यक्-दर्शन हो चुका हो। क्योंकि सम्यक्-दर्शन के बिना शुद्ध जिनत्व-भाव का एक अंश भी प्राप्त नहीं हो सकता। यदि सम्यक्-दर्शन की एक किरण भी जीवन-क्षितिज पर चमक जाती है, तो गहन से गहन गर्त में पतित आत्मा का भी उद्धार होने में कोई सन्देह नहीं है। सम्यक्-दर्शन की उस किरण का प्रकाश भले कितना ही मन्द क्यों न हो, परन्तु उसमें आत्मा को परमात्मा बनाने की शक्ति होती है। याद रखिए, उस निरंजन, निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा को खोजने के लिए कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है, वह आपके अन्दर में ही है। जिस प्रकार घनघोर घटाओं के बीच, बिजली की क्षीण रेखा के चमक जाने पर क्षणमात्र के लिए सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है, उसी प्रकार एक क्षण के लिए भी सम्यक्-दर्शन की ज्योति के प्रकट हो जाने पर कभी न कभी आत्मा का उद्धार अवश्य ही हो जाएगा। बिजली की चमक में सब-कुछ दृष्टिगत हो जाता है, भले ही वह कुछ क्षण के लिए ही क्यों न हो। इसी प्रकार यदि परमार्थ तत्त्व के प्रकाश की एक किरण भी अन्तर्हृदय में चमक जाती है, तो फिर भले ही वह कितनी ही क्षीण तथा क्षणिक क्यों न हो, उसके प्रकाश में प्राप्त ज्ञान सम्यक्-ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान को, सम्यक्-ज्ञान का रूप देनेवाला तत्त्व-दृष्टि रूप तत्त्व-बोध सम्यक्-दर्शन ही है। यह सम्यक्-दर्शन जीवन का मूलभूत तत्त्व है।

तत्त्वों में अर्थात् पदार्थों में सबसे पहला जीव है। जीव, चेतन, आत्मा आदि सब पर्यायवाची शब्द हैं। इस अनन्त विश्व में सबसे महत्त्वपूर्ण यदि कोई तत्त्व है, तो वह आत्मा ही है। 'मैं' की सत्ता का सच्चा विश्वास और सच्चा बोध, यही अध्यात्म-साधना का चरम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्य है। इस समग्र संसार में जो कुछ भी ज्ञात एवं अज्ञात है, उस सबका चक्रवर्ती एवं अधिष्ठाता, यह आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त संसार में अन्य दूसरे तत्त्व या पदार्थ हैं, वे सब उसके सेवक या दास हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ये पाँचों द्रव्य जीव के सेवक और दास हैं। इनको इतना भी अधिकार नहीं है कि वे जीव रूपी राजा की आज्ञा में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित कर सकें। जीव रूपी राजा को धर्मास्तिकाय सेवक यह आदेश नहीं दे सकता कि चलो, जल्दी करो। अधर्मास्तिकाय सेवक उस राजा को यह नहीं कह सकता कि जरा ठहर जाओ। आकाशास्तिकाय यह नहीं कह सकता कि यहाँ ठहरिए और यहाँ नहीं। पुद्गलास्तिकाय सदा उसके उपभोग के लिए तैयार खड़ा रहता है। काल भी उसकी पर्याय-परिवर्तन के लिए प्रतिक्षण तैयार रहता है। ये सब जीव के प्रेरक नहीं, मात्र उदासीन और तटस्थ हेतु ही होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं, कि सात तत्त्वों में, षड्द्रव्यों में और नव पदार्थों में सबसे मुख्य और सबसे प्रधान जीव ही है। इसी आधार पर जीव को चक्रवर्ती और अधिष्ठाता कहा जाता है। एक बात और है, हम जीव को अपनी अलंकृत भाषा में भले ही चक्रवर्ती कह लें, वस्तुतः वह चक्रवर्ती से भी महान् है, क्योंकि चक्रवर्ती केवल सीमित क्षेत्र का ही अधिपति होता है। सीमा के बाहर एक अणुमात्र पर भी उसका अधिकार नहीं होता और न ही उसका शासन चल सकता है। परन्तु जीव में वह शक्ति है कि जब वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है एवं अरहन्त बन जाता है, तब वह त्रिलोकनाथ और त्रिलोक-पूजित हो जाता है। त्रिलोक के समक्ष चक्रवर्ती के छह खण्ड का विशाल राज्य भी महासिन्धु में मात्र एक बिन्दु के समान ही होता है। चक्रवर्ती को चक्रवर्ती का उत्तराधिकार या किसी अन्य रूप में अन्य कोई व्यक्ति नहीं बनाता है, वह अपनी निज की शक्ति से ही चक्रवर्ती बनता है। इसी प्रकार इस आत्मा को भी त्रिलोकनाथ और त्रिलोकपूजित बनानेवाली अन्य कोई शक्ति नहीं है, आत्मा स्वयं अपनी शक्ति से ही, तीन लोक का नाथ और तीन लोक का पूज्य बन जाता है। आत्मा को परमात्मा बनाने वाला अन्य कोई नहीं होता, बल्कि स्वयं आत्मा ही अपने विकल्प और विकारों को नष्ट करके, आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

आप इस बात को जानते ही हैं कि सिंह को वन-राज कहा जाता है। वन-राज का अर्थ है—वन का राजा, वन का सम्राट् और वन का चक्रवर्ती। मैं आपसे पूछता हूँ कि आखिर उस सिंह को वन का राजा किसने बनाया? कौन ऐसा पशु एवं पक्षी है, जो आगे बढ़कर उसका राज्याभिषेक करता है। स्पष्ट है कि सिंह को वन का राज्य दिया नहीं जाता, बल्कि वह स्वयं अपनी शक्ति से उसको प्राप्त करता है। यहाँ पर भी यही बात सत्य है कि इस जीव को त्रिलोक का नाथ दूसरा कोई बनानेवाला नहीं है, यह स्वयं ही अपनी शक्ति से तीन लोक का नाथ बन जाता है। जैसे राजा के सेवक सदा राजा के आदेश का पालन करने के लिए तत्पर खड़े रहते हैं, वैसे ही जीव रूपी राजा के आदेश का पालन करने के लिए, अन्य द्रव्य, अन्य तत्त्व और अन्य पदार्थ सदा तत्पर खड़े रहते हैं। किसी में यह शक्ति नहीं है कि उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे चला सके, ठहरा सके अथवा अन्य कोई कार्य करा सके। जब उसकी इच्छा होती है, वह चलता है, जब उसकी इच्छा होती है, तब वह ठहरता है, जब उसकी इच्छा होती है, तभी वह अपना अन्य कोई कार्य संपादन करता है। अन्य पदार्थ तो केवल उसकी आज्ञा-पालन में तैयार खड़े रहते हैं। कुछ भी करनेवाला और कुछ भी न करनेवाला तो स्वयं जीव ही है। अन्य पदार्थ उसके कार्य में अथवा क्रियाकलाप में निमित्तमात्र ही रहते हैं। और, निमित्त भी प्रेरक नहीं, केवल उदासीन ही। यह जड़ शरीर और इसके अन्दर रहने वाली ये इन्द्रियाँ और मन भी तभी तक कार्य करते हैं, जब तक जीव रूपी राजा इस शरीर रूपी प्रासाद में रहता है। उसकी सत्ता पर ही इस संसार के सारे खेल चलते हैं। इस जड़ात्मक जगत् का अधिष्ठाता और चक्रवर्ती यह जीव जब तक इस देह में है, तभी तक यह देह हरकत करती है, इन्द्रियाँ अपनी प्रवृत्ति करती हैं और मन अपना काम करता है। इस तन में से जब चेतन जीव निकल जाता है, तब तन, मन और इन्द्रियाँ सब निरर्थक हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः यह कहा जा सकता है कि समस्त तत्त्वों में मुख्य तत्त्व जीव है, द्रव्यों में मुख्य द्रव्य जीव है और पदार्थों में प्रधान पदार्थ जीव ही है। इस अनन्त सृष्टि का अधिनायकत्व जो जीव को मिला है, उसका मुख्य कारण, उसका ज्ञान गुण ही है। ज्ञान होने के कारण ही यह ज्ञाता है और शेष संसार ज्ञेय है। जीव उपभोक्ता है और शेष समग्र संसार उसका उपभोग्य है। ज्ञाता है, तभी ज्ञेय की सार्थकता है। उपभोक्ता है, तभी उपभोग्य की सफलता है। इस अनन्त विश्व में जीवात्मा अपने शुभ या अशुभ कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह पाप भी कर सकता है और पुण्य भी कर सकता है। वह अच्छा भी कर सकता है और बुरा भी कर सकता है। पाप करके वह नरक में जा सकता है, पुण्य करके वह स्वर्ग में जा सकता है तथा संवर एवं निर्जरा रूप धर्म की साधना करके, वह मोक्ष में भी जा सकता है। मोक्ष अथवा मुक्ति जीव की ही होती है, अजीव की नहीं। जब अजीव शब्द का उच्चारण करते हैं, तो उसमें भी मुख्य रूप से जीव की ध्वनि ही ध्वनित होती है। क्योंकि जीव का विपरीत भाव ही तो अजीव है।

कुछ लोग तर्क करते हैं कि जीव से पहले अजीव को क्यों नहीं रखा ? यदि सात तत्त्वों में, षड् द्रव्यों में और नव पदार्थों में पहले जीव को न कहकर, अजीव का ही उल्लेख किया जाता, तो क्या आपत्ति थी ? सबसे पहले हमारी अनुभूति का विषय यह जड़ पदार्थ ही बनता है। यह शरीर भी जड़ है, इन्द्रियाँ भी जड़ हैं और मन भी जड़ है। जीवन की प्रत्येक क्रिया जड़ एवं पुद्गल पर ही आधारित है, फिर जीव से पूर्व अजीव को क्यों नहीं रखा ?

आपने देखा कि कुछ लोग अजीव की प्रमुखता के समर्थन में किस प्रकार तर्क करते हैं ? मेरा उन लोगों से एक ही प्रतिप्रश्न है, एक ही प्रतितर्क है ? यदि इस तन में से चेतन को निकाल दें, तो इस शरीर की क्या स्थिति रहेगी ? चेतन-हीन और जीव-विहीन शरीर को आप लोग शव कहते हैं। याद रखिए, जीव रूप शिव के सम्बन्ध से ही, देह रूप शव का स्वरूप बना हुआ है। यदि सात तत्त्वों में अथवा नव पदार्थों में जीव से पहले अजीव को रख दिया गया होता, तो यह इन्सान के दिमाग का दिवालियापन ही होता। और तो क्या, मोक्ष की बात को भी पहले नहीं रखा, सबसे अन्त में रखा है। सबका राजा तो आत्मा ही है, उसी के लिए यह सब-कुछ है, उसकी सत्ता से ही अजीव की सार्थकता है। पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा स्वतन्त्र कहाँ हैं। जीव की ही अवस्था-विशेष हैं, ये सब। मोक्ष भी जीव की ही अवस्था है, और मोक्ष के हेतु संवर और निर्जरा भी जीव के ही स्वरूप हैं। बन्ध और मोक्ष जीव के अभाव में किसको प्राप्त होंगे ? अतः संसार में जीव की ही प्रधानता है।

संस्कृत-भाषा में जिसे आत्मा कहते हैं, हिन्दी भाषा का 'आप' शब्द उसी का अपभ्रंश है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा से ही प्राकृत का अप्पा और अप्पा से हिन्दी का 'आप' बना है। आप और आत्मा दोनों का अर्थ एक ही है। आत्मा की बात अपनी बात है और अपनी बात आत्मा की बात है। यही जीवन का मूल तत्त्व है, जिस पर जीवन की समस्त क्रियाएँ आधारित हैं। जब तक यह शरीर में विद्यमान रहता है, तभी तक शरीर क्रिया करता है। शुभ क्रिया अथवा अशुभ क्रिया का आधार जीव ही है। जीवन के अभाव में न शुभ क्रिया हो सकती है और न अशुभ क्रिया हो सकती है। मन, वचन और शरीर की जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, उन सबका आधार जीव ही तो है। यदि आत्म-तत्त्व न हो, तो फिर इस विश्व में कोई भी व्यवस्था न रहे। विश्व की व्यवस्था का मुख्य आधार जीव ही है।

जीवन में तब तक ही मन, वचन, शरीर, इन्द्रियाँ आदि अपना-अपना कार्य करते हैं, जब तक चेतन इनमें अधिष्ठित है। चेतन के निकलते ही सब का काम एक साथ और एकदम बन्द हो जाता है।

उपमा की दृष्टि से आत्मा इस संसार में रानी मधुमक्खी है। जब तक वह इस देह रूप छत्ते पर बैठी होती है, तब तक ही, मन, वचन, शरीर, इन्द्रियाँ आदि रूप अन्य कर्मकर मधुमक्खियों का तथा पुण्य, पाप, शुभ एवं अशुभ आदि का व्यापार चलता रहता है। यह आत्मारूपी रानी मधुमक्खी जब अपना छत्ता छोड़ देती है, तो इस जीवन की शेष समस्त क्रियाएँ स्वतः बन्द हो जाती हैं, उन्हें किसी बाह्य कारण से बन्द करने की जरूरत नहीं रहती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। आत्मा न बाल है, न तरुण है, न प्रौढ़ है, न वृद्ध है। ये सब अवस्थाएँ आत्मा की नहीं, शरीर की होती हैं। अतः इनके आधार पर शरीर को आत्मा समझना और आत्मा को शरीर समझना, एक भयंकर मिथ्यात्व है। जब तक यह मिथ्यात्व नहीं टूटेगा, तब तक आत्मा का उद्धार और कल्याण कभी नहीं हो सकेगा। इस मिथ्यात्व को तोड़ने की शक्ति एकमात्र भेद-विज्ञानरूप सम्यक्-दर्शन में ही है।

जीवन के रहने पर ही सब कुछ रहता है, जीवन के न रहने पर तो कुछ भी नहीं रहता। इसी आधार पर अध्यात्मवादी-दर्शन में जीव को अन्य सभी तत्त्वों का राजा कहा गया है। यदि इस जीव, चेतन और आत्मा का वास्तविक बोध हो जाता है, तो जीव से भिन्न अजीव को एवं जड़ को पहचानना आसान हो जाता है। अजीव के परिज्ञान के लिए भी, पहले जीव का परिबोध ही आवश्यक है। स्व को जानो, स्व को पहचानो, यही सब से बड़ा सिद्धान्त है, यही सबसे बड़ा ज्ञान है और यही सब से बड़ा सम्यक्-ज्ञान है। जीव की पहचान ही सबसे पहला तत्त्व है।

जब जीव का यथार्थ परिज्ञान हो जाता है, तब प्रश्न यह उठता है—क्या इस संसार में जीव का प्रतिपक्षी भी कोई तत्त्व है? इसके उत्तर में स्पष्ट है कि जीव का प्रतिपक्षी अजीव है। अजीव शब्द में पूर्व का 'अ' शब्द अभाव वाचक नहीं है, अपितु प्रतिपक्ष का, विरोधी भाव का वाचक है, जैसे कि अधर्म। अधर्म, धर्म का अभाव नहीं है, अपितु धर्म-विरुद्ध अधर्म है, कदाचार है। अतः प्रतिपक्ष रूप अजीव के ज्ञान के लिए, जीव को ही आधार बनाना पड़ता है। इसलिए मैंने पूर्व में कहा था—'सप्त तत्त्वों में, षड्-द्रव्यों, नव पदार्थों में सबसे मुख्य तत्त्व, सबसे मुख्य द्रव्य एवं सबसे प्रधान पदार्थ जीव ही है। जीव के ज्ञान के साथ अजीव का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। शास्त्रकारों ने जीव का लक्षण बताया है—उपयोग। और, अजीव के लिए कहा है, कि जिसमें उपयोग न हो, वह अजीव है। अजीव का शब्दार्थ ही है—जो जीव न हो, वह अजीव अर्थात् अ+जीव। जीव का प्रतिपक्षी भाव रूप पदार्थ, अभाव रूप नहीं। अतः अजीव से पहले जीव का ही प्रमुख स्थान है।

जीव और अजीव के बाद आस्रव-तत्त्व आता है। आस्रव क्या है? जीव और अजीव का परस्पर विभाव रूप परिणति में प्रवेश ही आस्रव है। दो विजातीय पृथग्भूत तत्त्वों के मिलन की क्रिया, विभाव परिणाम है। जीव और पुद्गलरूप अजीव का विभाव रूप परिणाम ही आस्रव है। जीव की विभाव रूप परिणति और अजीव की विभाव रूप परिणति ही वास्तव में आस्रव है। एक ओर, पूर्व बद्ध मोह-कर्म के उदय से आत्मा राग-द्वेष रूप विभाव अवस्था में परिणत होता है, तो दूसरी ओर कार्मण-वर्गणा के पुद्गल भी उनके निमित्त से कर्मरूप विभाव अवस्था में परिणति करते हैं। उक्त उभयमुखी विभाव के द्वारा जब जीव और अजीव का संयोग होता है, उस अवस्था को शास्त्रकारों ने आस्रव कहा है। इसलिए जीव और अजीव के बाद आस्रव रखा है।

आस्रव के बाद बन्ध आता है। बन्ध का अर्थ है—कर्म-पुद्गल रूप अजीव और जीव का दूध और पानी अथवा अग्नि-तप्त-लोह-पिण्डवत् एक क्षेत्र अवगाही हो जाना। बन्ध का अर्थ—वह अवस्था है, जब दो विजातीय तत्त्व परस्पर मिल कर संबद्ध हो जाते हैं। इसी को संसार अवस्था कहते हैं।

पुण्य और पाप, जो कि मन, वचन और काय-योग की शुभ और अशुभ क्रियाएँ हैं। उनका अन्तर्भाव पहले आस्रव में और फिर बन्ध में कर दिया जाता है। आस्रव दो प्रकार का होता है—शुभ और अशुभ। आस्रव के बाद आत्मा के साथ बन्ध की प्रक्रिया होती है। अतः बन्ध भी दो प्रकार का होता है—शुभ-बन्ध और अशुभ-बन्ध। इस प्रकार शुभ और अशुभ रूप पुण्य और पाप दोनों ही आस्रव और बन्ध के अन्तर्गत है।

यहाँ तक मुख्यतः संसार अवस्था का ही वर्णन किया गया है। संसार अवस्था का अर्थ बाहर के किसी भी वन, पर्वत, नदी और जड़ पदार्थ नहीं, प्रत्युत वास्तविक संसार तो कर्म-परमाणुओं का अर्थात् कर्म-दलिकों का आत्मा के साथ संबद्ध हो जाना है। जब तक जीव और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुदगल की यह संयोग अवस्था बनी रहेगी, तब तक संसार की स्थिति और सत्ता भी बनी रहेगी। यह स्वर्ग और नरकों के खेल, यह पशु-पक्षी, कीट-पतंग एवं मानव आदि का जीवन, सब आस्रव और बन्ध पर ही आधारित हैं। शुभ और अशुभ अर्थात् पुण्य और पाप, यह सब भी संसार के ही खेल हैं। इनसे आत्मा का कोई हित नहीं होता, बल्कि अहित ही होता है। अध्यात्म-ज्ञानी की दृष्टि में शुभ भी बन्धन है और अशुभ भी बन्धन है। पाप भी बन्धन है और पुण्य भी बन्धन है। सुख भी बन्धन है और दुःख भी बन्धन है।

आश्रव और बन्ध के अनन्तर प्रश्न यह होता है कि यदि यह सब-कुछ संसार है, बंधन है, तो संसार का विपरीत भाव मोक्ष क्या वस्तु है? इसके समाधान में यह कहा गया है कि आत्मा की विशुद्ध अवस्था ही मोक्ष है, जो शुभ और अशुभ दोनों से अतीत है। दुःख की व्याकुलता यदि संसार है, तो सुख की आसक्ति रूपी आकुलता भी संसार ही है। मोक्ष की स्थिति में न दुःख की व्याकुलता रहती है और न सुख की ही आकुलता रहती है। जब तक जीव इस भेद-विज्ञान को नहीं समझेगा, तब तक वह संसार से निकल कर मोक्ष के स्वरूप में रमण नहीं कर सकेगा। पुद्गल और जीव का संयोग यदि संसार है, तो पुद्गल और जीव का वियोग ही मोक्ष है।

मोक्ष के लिए यह आवश्यक है कि जो अजीव कर्म-पुद्गल जीव के साथ सम्बद्ध होने वाला है या हो चुका है, उसे जीव से अलग रखने या अलग करने का प्रयत्न किया जाए। और इसी को मोक्ष की साधना कहते हैं। इस साधना का मुख्य केन्द्र-बिन्दु है—आत्मा और अनात्मा का भेद-विज्ञान। जब तक जीव और अजीव परस्पर पृथक् है, इस भेद-विज्ञान का ज्ञान नहीं हो जाता है, तब तक मोक्ष की साधना सफल नहीं हो सकती। इस भेद-विज्ञान का ज्ञान तभी होगा, जबकि आत्मा को सम्यक्-दर्शन की उपलब्धि हो जाएगी। सम्यक्-दर्शन के अभाव में न मोक्ष की साधना ही की जा सकती है और न वह किसी भी प्रकार से फलवती ही हो सकती है। भेद-विज्ञान का मूल आधार सम्यक्-दर्शन ही है। सम्यक्-दर्शन के अभाव में जीवन की एक भी क्रिया मोक्ष का अंग नहीं बन सकती, प्रत्युत उससे संसार की अभिवृद्धि ही होती है। मोक्ष की साधना के लिए साधक को जो कुछ करना है, वह यह है कि वह शुभ और अशुभ दोनों विकल्पों से दूर हो जाए। न शुभ को अपने अन्दर आने दे और न अशुभ को ही अपने अन्दर झाँकने दे। जब तक अन्दर के शुभ एवं अशुभ के विकल्प एवं विकार दूर नहीं होंगे, तब तक मोक्ष की सिद्धि नहीं की जा सकेगी। आस्रव से बन्ध और बन्ध से फिर आस्रव, यह चक्र आज का नहीं, बल्कि अनादिकाल का है। परन्तु इससे विमुक्त होने के लिए, आत्म-सत्ता का पूर्ण श्रद्धान जाग्रत होना ही चाहिए। शुभ और अशुभ के विकल्प जब तक बने रहेंगे, तब तक संसार का अन्त नहीं हो सकता, भले ही हम कितना ही प्रयत्न क्यों न कर लें।

संसार के विपरीत मोक्ष-मार्ग की साधना करना ही अध्यात्म है। मोक्ष का अर्थ है—आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था, जिसमें आत्मा का किसी भी विजातीय तत्त्व के साथ संयोग नहीं रहता और समग्र विकल्प एवं विकारों का अभाव होकर, आत्मा निज-स्वरूप में स्थिर हो जाती है। अतः आत्मा को विजातीय-भावों से अलग करना ही मोक्ष का हेतु है। जिस प्रकार संसार के दो कारण हैं—आस्रव और बन्ध। उसी प्रकार मोक्ष के भी दो कारण हैं—संवर और निर्जरा। संवर क्या है? प्रतिक्षण कर्म-दलिकों का जो आत्मा में आगमन है, उसे रोक देना ही संवर है। प्रतिक्षण आत्मा कषाय और योग के वशीभूत होकर, नवीन कर्मों का उपार्जन करती रहती है। उन नवीन कर्मों के आगमन को अकषाय-भाव और योग-निरोध से रोक देना ही, संवर कहा जाता है। प्रश्न है, निर्जरा क्या है? उत्तर है, पूर्वबद्ध कर्मों का एकदेश से आत्मा से अलग हटते रहना ही निर्जरा है। इस प्रकार धीरे-धीरे जब पूर्वबद्ध कर्म आत्मा से अलग होता रहेगा, तब एकक्षण ऐसा आता है, जबकि आत्मा सर्वथा कर्म-विमुक्त हो जाती है। इसी को मोक्ष कहा जाता है। संवर और निर्जरा मोक्ष के हेतु हैं। क्योंकि ये दोनों आस्रव और बन्ध के विरोधी तत्त्व हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब तक संवर और निर्जरा रूप धर्म की साधना नहीं की जाएगी, तब तक मुक्ति की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलब्धि भी सम्भव नहीं है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए संवर एवं निर्जरा की साधना आवश्यक है, इसके बिना आत्मा को स्व-स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सप्त तत्त्वों में अथवा नव पदार्थों में जीव ही प्रधान है। जीव के अतिरिक्त अन्य जितने भी पदार्थ एवं तत्त्व हैं, वे सब किसी न किसी रूप में जीव से ही सम्बन्धित हैं। जीव की सत्ता से ही आस्रव और बन्ध की सत्ता रहती है और जीव के आधार पर ही संवर एवं निर्जरा की सत्ता रहती है। मोक्ष भी क्या है? जीव की ही एक सर्वथा शुद्ध अवस्था-विशेष ही तो मोक्ष है। इस दृष्टि से विचार करने पर फलितार्थ यही निकलता है कि जीव की प्रधानता ही सर्वत्र लक्षित है। समग्र अध्यात्म-विद्या का आधार यह जीव ही है, अतः जीव के स्वरूप को समझने की ही सबसे बड़ी आवश्यकता है। जीव के स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर और यह निश्चय हो जाने पर, कि मैं पुद्गल से भिन्न चेतन तत्त्व हूँ, फिर आत्मा में किसी प्रकार का मिथ्यात्व और अज्ञान का अन्धकार शेष नहीं रह जाता। अज्ञान और मिथ्यात्व का अन्धकार तभी तक रहता है, जब तक 'पर' में स्वबुद्धि और 'स्व' में पर-बुद्धि रहती है। स्व में पर-बुद्धि और पर में स्व-बुद्धि का रहना ही बन्धन है। स्व में स्व-बुद्धि का रहना ही वस्तुतः भेद-विज्ञान है। जब स्व में स्व-बुद्धि हो गई, तब पर में पर-बुद्धि तो अपने आप ही हो जाती है, उसके लिए किसी प्रकार के प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। प्रयत्न की आवश्यकता केवल निज-स्वरूप को समझने के लिए है। जिसने निज-स्वरूप को समझ लिया, उसे फिर अन्य किसी बात की अपेक्षा नहीं रहती।

संसार एक बाजार है। आप जानते हैं कि बाजार में हजारों दुकानें होती हैं, जिनमें नाना प्रकार की सामग्री भरी रहती है। बाजार में अच्छी चीज भी मिल सकती है और बुरी-से-बुरी चीज भी मिलती है। बाजार में कम कीमत की चीज भी मिल सकती है और अधिक मूल्य की वस्तु भी बाजार में उपलब्ध हो सकती है। यह खरीदने वाले की भावना पर है कि वह क्या खरीदता है और क्या नहीं खरीदता है? यदि कोई व्यक्ति वस्तु खरीद लेता है, तो वह उसे लेनी होगी, और उसकी कीमत चुकानी होगी। यदि कोई बाजार में से तटस्थ दर्शक के रूप में गुजरता है, कुछ भी नहीं खरीदता है, तो उसे बाजार की किसी वस्तु को लेने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है, और न मूल्य चुकाने के लिए ही कोई दबाव डाला जा सकता है। संसार के बाजार में भी सभी कुछ है। यहाँ विष भी है और अमृत भी, अर्थात् शुभ भी है, अशुभ भी है। सुख भी है और दुःख भी है। स्वर्ग भी है और नरक भी है। यदि आपकी दृष्टि कुछ भी पाने की नहीं है, मात्र तटस्थ दर्शक ही ह आप, तब तो किसी वस्तु को लेने की बाध्यता नहीं है आपको। स्पष्ट है, बाजार की वस्तु उसी से चिपकती है, जो उसे खरीदता है। जो व्यक्ति कुछ खरीदता ही नहीं, उस के साथ कोई भी वस्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध चिपक नहीं सकती। यदि आप संसार रूपी बाजार की यात्रा खरीददार बनकर कर रहे हैं, संसार की वस्तुओं के साथ रागात्मक या द्वेषात्मक भाव रख रहे हैं, तो तन्निमित्तक कर्म आपके साथ अवश्य चिपक जाएगा। इसके विपरीत यदि आप संसार रूप बाजार की यात्रा केवल एक दर्शक के रूप में कर रहे हैं, राग-द्वेष का भाव नहीं रख रहे हैं, तो एक भी कर्म आपके साथ सम्बद्ध न हो सकेगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आप संसार के बाजार की यात्रा एक दर्शक के रूप में कीजिए, खरीददार बनकर नहीं। यदि एक बार भी कहीं कुछ खरीदा, राग-द्वेष का भाव किया, तो फिर वही समस्या खड़ी हो जाएगी। राग और द्वेष के वशीभूत होकर ही यह आत्मा अच्छे एवं बुरे कर्मों को प्राप्त करती है, जिसका सुख-दुःखात्मक फल उसे भोगना ही पड़ता है।

अध्यात्म-साधना में सफलता प्राप्त करने के लिए, राग और द्वेष के विकल्पों को जीतने की आवश्यकता है। जब तक जीवन में अनासक्ति का भाव और वीतरागता का भाव नहीं आएगा, तब तक जीवन का कल्याण नहीं हो सकेगा। वीतरागता की वह कला प्राप्त करो, जो ऐसी अद्भुत है, कि संसार-सागर में गोता लगाने पर भी, उसकी एक भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बूंद आप पर असर नहीं डाल पाती और यह कला राग-द्वेष के विकल्प को जीतने की ही है। जब आत्मा में वीतराग-भाव आ जाता है, तब संसार के किसी भी पदार्थ का उसके जीवन पर अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। संसार का विपरीत भाव ही मोक्ष है। जैसे दूध—दूध है और पानी—पानी है, यह दोनों की शुद्ध अवस्था है। जब दोनों को मिला दिया जाता है, तब यह दोनों की अशुद्ध अवस्था कहलाती है। इस प्रकार जीव और पुद्गल की संयोगावस्था संसार है और इन दोनों की वियोगावस्था ही मोक्ष है। इस मोक्ष अवस्था में जीव, जीव रह जाता है और पुद्गल, पुद्गल। वस्तुतः यही दोनों की विशुद्ध स्थिति है।

यहाँ पर एक बात और भी विचारणीय है, और वह यह कि प्रत्येक मत और प्रत्येक पंथ, अपने को सच्चा समझता है और दूसरे को झूठा समझता है। वास्तव में कौन सच्चा है और कौन झूठा है, इसकी परीक्षा करना भी आवश्यक हो जाता है। मैं समझता हूँ, जो धर्म और दर्शन सत्य की उपासना करता है, फिर भले ही वह सत्य अपना हो अथवा दूसरों का हो, बिना किसी मताग्रह एवं पूर्वाग्रह के तटस्थ-भाव से सत्य को सत्य समझना ही वास्तविक सम्यक्-दर्शन है। सत्य तत्त्वों पर निश्चित दृष्टि, प्रतीति अर्थात् श्रद्धान ही मोक्ष-साधना का प्रथम अंग है। अध्यात्म-साधना में सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक होता है कि आत्म-धर्म क्या है और आत्म-स्वभाव क्या है? आत्मा और अनात्मा के भेद-विज्ञान को अध्यात्म-भाषा में सम्यक्-दर्शन कहा जाता है। आत्म-स्वरूप का स्पष्ट दर्शन और कल्याण-पथ की दृढ़ आस्था, यही सम्यक्-दर्शन है। कभी-कभी हमारी आस्था में और हमारी श्रद्धा में भय से और लोभ से चंचलता और मलिनता आ जाती है। इस प्रकार के प्रसंग पर भेद-विज्ञान के सिद्धान्त से ही, उस चंचलता और मलिनता को दूर हटाया जा सकता है। सम्यक्-दर्शन की ज्योति जगते ही, तत्त्व का स्पष्टतः दर्शन होने लगता है। स्वानुभूति और स्वानुभव, यही सम्यक्-दर्शन की सबसे संक्षिप्त परिभाषा हो सकती है। कुछ विचार-मूढ़ लोग बाह्य जड़-क्रियाकाण्ड में ही सम्यक्-दर्शन मानते हैं। किन्तु, सम्यक्-दर्शन का सम्बन्ध किसी भी जड़-क्रियाकाण्ड से नहीं है, बल्कि उसका एकमात्र सम्बन्ध है, आत्म-भाव की विशुद्ध परिणति से। सम्यक्-दर्शन का सम्बन्ध न किसी वेश-विशेष से है, न किसी जाति-विशेष से है और न किसी पंथ-विशेष से ही है। जब तक यह आत्मा स्वाधीन सुख को प्राप्त करने की ओर उन्मुख नहीं होती है,तब तक किसी भी प्रकार की धर्म-साधना से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। अपनी आत्मा में अविचल आस्था होना ही सम्यक्-दर्शन का वास्तविक अर्थ है, तब शरीरापेक्षित किसी भी जड़ क्रियाकाण्डों में और सम्प्रदाय विशेष के विविध विधि-निषेधों में सम्यक्-दर्शनन हीं हो सकता।

सम्यक्-दर्शन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा जा चुका है, किन्तु सम्यक्-दर्शन एक ऐसा विषय है कि जीवन भर भी यदि इस पर विचार किया जाए, तब भी इस विषय का अन्त नहीं आ सकता। फिर भी, संसार के किसी भी पदार्थ को रागात्मक दृष्टि से देखना निश्चय ही अधर्म है, और उसे स्वरूप-बोध की दृष्टि से देखना, निश्चय ही धर्म है। किसको देखना? इस प्रश्न के उत्तर में कहना है कि इस संसार में अनन्त पदार्थ हैं, तुम किस-किस को देखोगे? यह जटिल समस्या है। अतः किसी ऐसे पदार्थ को देखो, जिसके देखने से अन्य किसी के देखने की इच्छा ही न रहे और वह पदार्थ अन्य कोई नहीं, एकमात्र आत्मा ही है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि किसको देखना? इस प्रश्न का एक ही समाधान है, कि आत्मा को ही देखो। आत्मा को देखने पर ही हम अपने लक्ष्य को अधिगत कर सकेंगे। अभी तक यह आत्मा अपने को अनन्त-काल से मिथ्या-दृष्टि से ही देखती रही है, किन्तु जब तक सम्यक्-दृष्टि से नहीं देखा जाएगा, तब तक आत्मा का कल्याण एवं उत्थान नहीं हो सकता। इस प्रकार जब हम वस्तुस्थिति का अध्ययन करते हैं, तब हमें जीवन की वास्तविकता का परिबोध हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्ति और मुक्ति का मार्ग :

भारत के अध्यात्म-दर्शन में स्पष्ट रूप से यह बतलाया गया है कि जीवन के इस चरम लक्ष्य को कोई भी साधक अपनी साधना के द्वारा प्राप्त कर सकता है। भले ही वह साधक गृहस्थ हो अथवा भिक्षु हो। पुरुष हो अथवा नारी हो। बाल हो अथवा वृद्ध हो। भारत का हो अथवा भारत के बाहर का हो। जाति, देश और काल की सीमाएँ शक्ति-पुञ्ज आत्म-तत्त्व को अपने में आबद्ध नहीं कर सकती। विश्व का प्रत्येक व्यक्ति—राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध बन सकता है। किन्तु जीवन की इस ऊँचाई को पार करने की उसमें जो क्षमता और योग्यता है, तदनुकूल प्रयत्न भी होना चाहिए। भारतीय-संस्कृति में महापुरुषों के उच्च एवं पवित्र जीवन की पूजा एवं प्रतिष्ठा तो की गई, किन्तु उसे कभी अप्राप्य नहीं बताया गया। जो अप्राप्य है, अलभ्य है, भारतीय-संस्कृति उसे अपना आदर्श नहीं मानती। वह आदर्श उसी को मानती है—जो प्राप्य है, प्राप्त किया जा सकता है। यह बात अलग है कि उस आदर्श को प्राप्त करने के लिए कितना प्रयत्न करना पड़ता है, कितनी साधना करनी पड़ती है। भारतीय-दर्शन यथार्थ और आदर्श में समन्वय करके चलता है। भारत का प्रत्येक नागरिक यह चाहता है कि मेरा पुत्र राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध बने तथा मेरी पुत्री ब्राह्मी, सुन्दरी, सीता और सावित्री बने। जीवन का यह आदर्श ऐसा कुछ नहीं है, जिसे प्राप्त न किया जा सके। भारतीय-जीवन की यह एक विशेषता है कि वह अपनी संतान का नाम भी महापुरुषों के नाम पर रखती है। भारत के घरों के कितने ही आँगन ऐसे हैं—जिनमें राम, कृष्ण, शंकर, महावीर और गौतम खेलते हैं। सीता, सावित्री, पार्वती और त्रिशला भी कम नहीं हैं। इसके पीछे एक ध्येय है और वह यह कि जैसा तुम्हारा नाम है, वैसे ही तुम बन सकते हो। ये नाम केवल आदर्श ही नहीं हैं, यथार्थ भी हैं। अतः स्पष्ट है, एक साधक अपने जीवन में जिस आदर्शवादी दृष्टिकोण को लेकर चलता है, वह आदर्श केवल आदर्श ही नहीं है, जीवन के धरातल पर उतरने वाला एक यथार्थ सत्य है। आदर्श को यथार्थ में बदलने की अध्यात्म-कला का यहाँ चरम विकास हुआ है। भारतीय-संस्कृति का यह एक स्वस्थ संतुलित सुन्दर एवं स्पष्ट सिद्धान्त रहा है कि जीवन को शान्त एवं आनन्दित बनाने के लिए विचार को आचार में बदला जाए और आचार को विचार में बदला जाए। भारतीय-दर्शन का आदर्श आत्मा के सम्बन्ध में सच्चिदानन्द रहा है। जहाँ सत् अर्थात् सत्ता, चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द अर्थात् सुख—तीनों की स्थिति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, उसी अवस्था को यहाँ परमात्म-भाव कहा गया है। उसकी प्राप्ति के बाद अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता। इसकी साधना कर लेने के बाद अन्य कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। आप ही विचार कीजिए, जब अनन्त आनन्द मिल गया, अक्षय सुख मिल गया, फिर तो अब क्या पाना शेष रह गया? कुछ भी तो शेष नहीं बचा, जिसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जाए एवं साधना की जाए! भारतीय-दर्शन में इसी को मोक्ष कहा गया है, इसी को मुक्ति कहा गया है और इसी को मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। यहाँ एक बात याद रखने की है कि जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा का अनन्त आनन्द सत् है, असत् नहीं। वह केवल दुःखाभावरूप तुच्छ अभाव नहीं है, अपितु अनन्त काल से विकृत चले आ रहे आनन्द का शुद्ध रूप है। जब आत्मा स्वयं सत् है, तो उसका आनन्द असत् कैसे हो सकता है? जब आत्मा स्वयं सत् है, तो उसका चित् (ज्ञान) असत् कैसे हो सकता है? आत्मा में सत्, चित्, और आनन्द शाश्वत है, नित्य है, इनका कभी अभाव नहीं होता।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि जब आत्मा सुख-रूप एवं आनन्द रूप है, तब उसमें दुःख कहाँ से आता है? और क्यों आता है? दुःख का मूल कारण बन्धन है। जब तक आत्मा की बद्धदशा है, तभी तक आनन्द विकृत होकर दुःख की स्थिति में बदला रहता है। दुःख एवं क्लेश का मूल कारण कर्म, अविद्या, माया एवं वासना को माना गया है। जब तक आत्मा कर्म के बन्धन से बद्ध है, तभी तक आनन्द विकृत रहता है, तभी तक उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुःख और क्लेश रहते हैं। जब आत्मा का कर्म के साथ संयोग न रहेगा, तब आनन्द अपने शुद्ध रूप में परिणत हो जाएगा, फलतः सर्व प्रकार के दुःख एवं क्लेशों का क्षय हो जाएगा।

देह का नाश या शरीर का छूट जाना ही मोक्ष नहीं है। ग्राम, नगर और समाज को छोड़कर शून्य निर्जन वन में चले जाना ही मोक्ष नहीं है। इस प्रकार का मोक्ष तो एक बार नहीं, अनन्त-अनन्त बार हो चुका है। वास्तविक मोक्ष तो यही है, कि अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्म, विकार, अविद्या और माया को दूर किया जाए। विकारों से मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है। जीवन-मुक्ति पहले है, और विदेह-मुक्ति उसके बाद में है।

भारतीय-दर्शन का लक्ष्य आनन्द है। भले ही वह दर्शन भारत की किसी भी परम्परा से सम्बद्ध रहा हो, किन्तु प्रत्येक अध्यात्मवादी-दर्शन इस तथ्य को स्वीकार करता है कि साधक के जीवन का लक्ष्य एकमात्र आनन्द है। यह प्रश्न अवश्य किया जा सकता है, कि उस अनन्त आनन्द की प्राप्ति वर्तमान जीवन में भी हो सकती है, या नहीं? क्या मृत्यु के बाद ही उस अनन्त आनन्द की प्राप्ति होगी? मैंने इस तथ्य को अनेक बार दुहराया है कि मुक्ति एवं मोक्ष जीवन का अंग है। स्वयं चैतन्य का ही एक रूप है। एक ओर संसार है और दूसरी ओर मुक्ति है। जब यह जीवन संसार हो सकता है, तब यह जीवन मोक्ष क्यों नहीं हो सकता? जीवन से अलग न संसार है और न मोक्ष है। संसार और मोक्ष दोनों ही जीवन के दो पहलू हैं, दो दृष्टिकोण हैं। दोनों को समझने की आवश्यकता है। यह बात कितनी विचित्र है, कि संसार को तो हम जीवन का अंग मान लें, किन्तु मुक्ति को जीवन का अंग न मानें। जैन-दर्शन कहता है कि एक ओर करवट बदली, तो संसार है और दूसरी ओर करवट बदली, तो मोक्ष है। किन्तु दोनों ओर करवट बदलने वाला जीवन शाश्वत है। वह संसार में भी है और मोक्ष में भी है। इसलिए मोक्ष जीव का ही होता है, और वह जीवन में ही होता है, मृत्यु में नहीं। जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह भी आखिर क्या वस्तु है? मृत्यु जीवन का ही एक परिणाम है, जीवन का ही एक पर्याय है। मोक्ष एवं मुक्ति यदि जीवन-दशा में नहीं मिलती है, तो मृत्यु के बाद वह कैसे मिलेगी? अतः भारतीय-दर्शन का यह एक महान् आदर्श है, कि जीवन में ही मुक्ति एवं मोक्ष प्राप्त किया जाए। इसको दर्शनशास्त्र में अर्हन्तदशा एवं जीवन-मुक्त अवस्था कहा जाता है। जीवन मुक्ति का अर्थ है—जीवन के रहते हुए ही, शरीर और श्वासों के चलते हुए ही, काम, क्रोध आदि विकारों से इस आत्मा का सर्वथा मुक्त हो जाना। काम-क्रोध आदि विकार भी रहें और मुक्ति भी मिल जाए, यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। जैन-दर्शन के अनुसार राग एवं द्वेष आदि कषायों को सर्वथा क्षय कर देना ही मुक्ति है।

आत्मवादी-दर्शन के समक्ष दो ही ध्रुव-केन्द्र हैं—आत्मा और उसकी मुक्ति। मोक्ष क्या वस्तु है? इस प्रश्न के उत्तर में अध्यात्मवादी-दर्शन घूम-फिर कर एक ही बात और एक ही स्वर में कहते हैं कि मोक्ष आत्मा की उस विशुद्ध स्थिति का नाम है—जहाँ आत्मा सर्वथा अमल एवं धवल हो जाती है। मोक्ष में एवं मुक्ति में जीवन का विसर्जन न होकर उसके प्रति मानव-बुद्धि में जो एक प्रकार का मिथ्या-दृष्टिकोण है, उसी का विसर्जन होता है। मिथ्या-दृष्टिकोण का विसर्जन हो जाना, साधक जीवन की एक बहुत बड़ी उत्क्रान्ति है। जैन-दर्शन के अनुसार मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक्-दर्शन का, मिथ्या-ज्ञान के स्थान पर सम्यक्-ज्ञान का और मिथ्या-चारित्र के स्थान पर सम्यक्-चारित्र का पूर्णतया एवं सर्वतोभावेन विकास हो जाना ही मोक्ष एवं मुक्ति है। मोक्ष को जब आत्मा की विशुद्ध स्थिति स्वीकार कर लिया जाता है, तब मोक्ष के विपरीत आत्मा की अशुद्ध स्थिति को ही संसार कहा जाता है। संसार क्या है? स्थूल रूप में संसार का अर्थ आकाश, सूर्य, चन्द्र, भूमि, वायु, जल और अग्नि आदि समझा जाता है। परन्तु क्या वस्तुतः अध्यात्म-भाषा में भी यही संसार है? क्या अध्यात्म-शास्त्र इन सब को छोड़ने की बात कहता है? क्या यह सम्भव है कि भौतिक जीवन के रहते, इन भौतिक तत्त्वों को छोड़ा जा सके? पूर्ण आध्यात्मिक जीवन में भी, मोक्ष में भी आत्मा रहेगी तो लोक में ही, लोकाकाश में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही। लोकाकाश के बाहर कहाँ जाएगी? जब एक व्यक्ति वैराग्य की भाषा में संसार छोड़ने की बात कहता है, तब वह क्या छोड़ता है? अशन, वसन और भवन इनमें से वह क्या छोड़ सकता है? कल्पना कीजिए, कदाचित् इनको भी वह छोड़ दे, फिर भी अपने तन और मन को वह कैसे छोड़ सकता है? इस भूमि और आकाश का परित्याग वह कैसे कर सकेगा? तब फिर उसने क्या छोड़ा? हम वैराग्य की भाषा में यह कह देते हैं कि वैराग्यशील ज्ञानी साधक ने संसार को छोड़ दिया, किन्तु इस संसार-परित्याग का क्या अर्थ है? संसार छोड़कर वह कहाँ चला गया? और, उसने छोड़ा भी क्या है? वही शरीर रहा, वस्त्र भी वही रहा, भले ही उसकी बनावट में कुछ परिवर्तन आ गया हो। एक गृहस्थ की वेषभूषा के स्थान पर एक साधु का वेष आ गया हो। शरीर-पोषण के लिए वही भोजन, वही जल और वही वायु रही, तब संसार छोड़ने का क्या अर्थ हुआ? इससे स्पष्ट होता है कि यह सब-कुछ संसार नहीं है। तब संसार क्या है? अध्यात्म-भाषा में यह कहा जाता है, कि वैषयिक आकांक्षाओं, कामनाओं और इच्छाओं का हृदय में जो अनन्त-काल से आवास है, वस्तुतः वही बन्धन है, वही संसार है। उस आकांक्षा का, कामना का और वासना का परित्याग ही सच्चा वैराग्य है। कामनाओं की दासता से मुक्त होना ही संसार से मुक्त होना है। जब साधक को अपने चित्त में आनन्द की उपलब्धि होती है, जब उसके जीवन में निराकुलता की भावना आती है, जब साधक के जीवन में व्याकुलता-रहित शान्त स्थिति आती है और यह आकुलता एवं व्याकुलता-रहित अवस्था जितने काल के लिए चित्त में बनी रहती है, शुद्ध आनन्द का वह एक मधुर क्षण भी मानव-जीवन की अंशतः क्षणिक मुक्ति ही है। भले ही आज वह स्थायी न हो और साधक का उस पर पूर्ण अधिकार न हो पाया हो, परन्तु जिस दिन वह उस क्षणिकता को स्थायित्व में बदल कर मुक्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेगा, उसी दिन, उसी क्षण उसकी पूर्ण मुक्ति हो जाएगी। जो अध्यात्म-साधक शरीर में रह कर भी शरीर में नहीं रहता, जो जीवन में रह कर भी जीवन में नहीं रहता और जो जगत् में रहकर भी जगत् में नहीं रहता, वही वस्तुतः विमुक्त आत्मा है। देह के रहते हुए भी, देह की ममता में बद्ध न होना, सच्ची मुक्ति है। जो देह में रहकर भी देह-भाव में आसक्त न होकर देहातीत अवस्था में पहुँच जाता है, वही अर्हंत है, वही जिन है और वही वीतराग है। अध्यात्म-दर्शन साधक को जगत् से भागते फिरने की शिक्षा नहीं देता। वह तो कहता है कि तुम प्रारब्ध कर्मजन्य भोग में रहकर भी भोग के विकारों और विकल्पों के बन्धन से मुक्त होकर रहो, यही जीवन की सबसे बड़ी साधना है। जीवन की प्रारब्ध-प्रक्रिया से भयभीत होकर कहाँ तक भागते रहोगे? और, कब तक भागते रहोगे? आखिर एक दिन उससे मोर्चा लेना ही होगा। देह आदि की तथाकथित आवश्यकता की पूर्ति करते हुए भी विकारों से निर्लिप्त रहना ही होगा, अन्तर्द्वन्द्व में विजेता बनना ही होगा, यही जीवन की सच्ची अध्यात्म–कला है।

भारत के अध्यात्म साधकों की जीवन-गाथा एक-से-एक सुन्दर है, एक-से-एक मधुर है। भारत के अध्यात्म-साधक शूली की नुकीली नोंक पर चढ़कर भी मुक्ति का राग अलापते रहे हैं। भारत के अध्यात्म-साधक शूलों की राह पर चलकर भी मुक्ति के मार्ग से विमुख नहीं हो सके हैं। चाहे वे भवन में रहे हों या वन में रहे हों; चाहे वे एकाकी रहे हों या अनेकों के मध्य में रहे हों; चाहे वे सुख में रहे हों या दुःख में रहे हों––जीवन की प्रत्येक स्थिति में वे अपनी मुक्ति के लक्ष्य को भूल नहीं सके हैं। शूली की तीक्ष्ण नोंक पर और फूलों की कोमल सेज पर अथवा रंगीले राजमहलों में या वीरान जंगलों में रहने-वाले ये अध्यात्म-साधक अपने जीवन का एक ही लक्ष्य लेकर चले और वह लक्ष्य था––मुक्ति एवं मोक्ष। और तो क्या भारत की ललनाएँ अपने शिशुओं को पालने में झुलाते हुए भी उन्हें अध्यात्म की लोरियाँ सुनाती रही हैं। मदालसा जैसीम हानारियाँ गाती हैं––

"शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निरंजनोऽसि,
संसार माया परिवर्जितोऽसि।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"तू शुद्ध है, निरंजन है और निर्विकार है। इस संसार में तू संसार की माया में आबद्ध होने के लिए नहीं आया है। तेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य है—भव-बन्धनों का विच्छेद करना, माया के जाल को काट देना और सर्व प्रकार के प्रपंचों एवं समग्र द्वन्द्वों से विमुक्त होकर रहना। जिस भारत की ललनाएँ अपने दूधमुहे शिशुओं को पालने में झुलाते हुए लोरियों में भी अध्यात्मवाद के संगीत सुनाती हैं, उस भारत के समक्ष मोक्ष एवं मुक्ति से ऊँचा अन्य कोई लक्ष्य हो ही नहीं सकता।

अब प्रश्न यह उठता है कि जिस मुक्ति की चर्चा भारत का अध्यात्मवादी-दर्शन जन्म-घुट्टी से लेकर मृत्यु-पर्यन्त करता रहता है, जीवन के किसी भी क्षण में वह उसे विस्मृत नहीं कर सकता, आखिर उस मुक्ति का उपाय और साधन क्या है? क्योंकि साधक बिना साधन के सिद्धि को प्राप्त कैसे कर सकता है? कल्पना कीजिए, आपके समक्ष एक वह साधक है, जिसने मुक्ति की सत्ता और स्थिति पर विश्वास कर लिया है, जिसने मुक्ति प्राप्ति का अपना लक्ष्य भी स्थिर कर लिया है। यह सब कुछ तो ठीक है—परन्तु यदि उसे यह मालूम न हो कि मुक्ति का साधन और उपाय क्या है, तब उसके सामने एक बड़ी विकट समस्या आ जाती है। साधक के जीवन में इस प्रकार की स्थिति बड़ी विचित्र और बड़ी विकट होती है। यदि कोई अकुशल नाविक नाव में बैठकर किसी विशाल नदी को पार कर रहा हो, और ऐसे ही चलते-चलते मँझधार में पहुँच भी चुका हो, पर इस प्रकार की स्थिति में यदि सहसा झंझावात आजाए, तूफान आ जाए, तब वह अपने को कैसे बचा सकेगा, यदि उसने बचने का उपाय पहले से नहीं सीखा है, तो नौका एक माध्यम है जल-धारा को पार करने के लिए। परन्तु नौका चलाने की कला यदि ठीक तरह नहीं सीखी है, तो कैसे पार हो सकता है? यही स्थिति संसार-सागर को पार करते हुए अध्यात्म-साधक की होती है। मुक्ति के लक्ष्य को स्थिर कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, उससे भी बढ़कर आवश्यक यह है, एक साधक उसे कैसे प्राप्त कर सके? भारत के अध्यात्मवादी-दर्शन में मात्र मुक्ति के लक्ष्य को सूचित ही नहीं किया गया, बल्कि उस लक्ष्य तक पहुँचने और उसे प्राप्त करने का मार्ग और उपाय भी बताया गया है। मुक्ति के आदर्श को बताकर साधक से यह कभी नहीं कहा गया कि वह केवल तुम्हारे जीवन का आदर्श है, किन्तु तुम उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि उसकी प्राप्ति का कोई अमोघ साधन नहीं है। इसके विपरीत उसे सतत एक ही प्रेरणा दी गई कि मुक्ति का आदर्श अपने में बहुत ऊँचा है, किन्तु वह अलभ्य नहीं है। तुम उसे अपनी साधना के द्वारा एक दिन अवश्य प्राप्त कर सकते हो। जिस साध्य की सिद्धि का साधन न हो, वह साध्य ही कैसा?

आश्चर्य है, कुछ लोग आदर्श की बड़ी विचित्र व्याख्या करते हैं। उनके जीवन के शब्द-कोष में आदर्श का अर्थ है—'मानव-जीवन की वह उच्चता एवं पवित्रता, जिसकी कल्पना तो की जा सके, किंतु जहाँ पहुँचा न जा सके।' मेरे विचार में आदर्श की यह व्याख्या सर्वथा भ्रान्त है, बिल्कुल गलत है। भारत की अध्यात्म-संस्कृति कभी यह स्वीकार नहीं करती कि 'आदर्श, आदर्श है, वह कभी यथार्थ की भूमिका पर नहीं उतर सकता। हम आदर्श पर न कभी पहुँचे हैं और न कभी पहुँच सकेंगे।'

अध्यात्मवादी-दर्शन यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि जीवन की उच्चता और पवित्रता का हम चिन्तन तो करें, किन्तु जीवन में उसका अनुभव न कर सकें। मैं उस साधना को साधना मानने के लिए तैयार नहीं हूँ, जिसका चिन्तन तो आकर्षक एवं उत्कृष्ट हो, किन्तु वह चिन्तन साक्षात्कार एवं अनुभव का रूप न ले सके। मात्र कल्पना एवं स्वप्नलोक के आदर्श में भारत के अध्यात्मवादी-दर्शन की आस्था नहीं है, होनी भी नहीं चाहिए। यहाँ तो चिन्तन को अनुभव बनना पड़ता है और अनुभव को चिन्तन बनना पड़ता है। चिन्तन और अनुभव यहाँ सहजन्मा और सदा से सहगामी रहे हैं। उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मानव-जीवन का आदर्श स्वप्नलोक की वस्तु नहीं है कि ज्यों-ज्यों उसकी ओर आगे बढ़ते जाएँ, त्यों-त्यों वह दूर से दूरतर होती जाए। आदर्श उस अनन्त क्षितिज के समान नहीं है, जो दृष्टिगोचर तो होता रहे, किन्तु कभी प्राप्त न हो। धरती और आकाश के मिलन का प्रतीक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह क्षितिज, जो केवल दिखलायी तो पड़ता है, किन्तु वास्तव में जिसका कोई अस्तित्व नहीं होता——मानव-जीवन का आदर्श इस प्रकार का नहीं है। भारत का अध्यात्मवादी-दर्शन मानव-जीवन के आदर्श को भटकने की वस्तु नहीं मानता। वह तो जीवन के यथार्थ जागरण का एक मूलभूत तत्त्व है। उसे पकड़ा जा सकता है, उसे ग्रहण किया जा सकता है और उसे जीवन के धरातल पर शत-प्रतिशत उतारा जा सकता है। मोक्ष केवल आदर्श ही नहीं, बल्कि वह जीवन का एक यथार्थ तथ्य है। यदि मोक्ष केवल आदर्श ही होता, यथार्थ न होता, तो उसके लिए साधन और साधना का कथन ही व्यर्थ होता। मोक्ष अदृष्ट दैवी हाथों में रहनेवाली वस्तु नहीं है, जिसे मनुष्य प्रथम तो अपने जीवन में प्राप्त ही न कर सके अथवा प्राप्त करे भी तो रोने-धोने, हाथ पसारने और दया की भीख माँगने पर, अन्यथा नहीं। जैन-दर्शन में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि साधक! मुक्ति किसी दूसरे के हाथों की चीज नहीं है। और न वह केवल कल्पना एवं स्वप्नलोक की ही वस्तु है, बल्कि वह यथार्थ की चीज है, जिसके लिए प्रयत्न और साधना की जा सकती है तथा जिसे सतत अभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जैन-दर्शन ने स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषणा की है कि प्रत्येक साधक के अपने ही हाथों में मुक्ति को अधिगत करने का उपाय एवं साधन है। और वह साधन क्या है? वह है सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र। इन तीनों का समुचित समग्र रूप ही मुक्ति का वास्तविक उपाय एवं साधन है।

कुछ विचारक भारत के अध्यात्मवादी-दर्शन को निराशावादी-दर्शन कहते हैं। भारत का अध्यात्मवादी-दर्शन निराशावादी क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है कि वह वैराग्य की बात करता है, वह संसार से भागने की बात करता है, वह दुःख और क्लेश की बात करता है। परन्तु, वैराग्यवाद और दुःखवाद के कारण उसे निराशावादी-दर्शन कहना, कहाँ तक उचित है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूँ कि अवश्य ही अध्यात्मवादी-दर्शन ने दुःख, क्लेश और बन्धन की बात की है। वैराग्य-रस से आप्लावित कुछ जीवन-गाथाएँ इस प्रकार की मिलती भी हैं, जिनके आधार पर अन्य विचारकों को भारत के अध्यात्मवादी-दर्शन को निराशावादी-दर्शन कहने का दुस्साहस करना पड़ा। किन्तु, वस्तु-स्थिति का सम्यक्-विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह केवल विचारकों का मतिभ्रम-मात्र है। भारतीय अध्यात्मवादी-दर्शन का विकास अवश्य ही दुःख एवं क्लेश के मूल में से हुआ है, किन्तु मैं यह कहता हूँ कि भारतीय-दर्शन ही क्यों, विश्व के समग्र दर्शनों का जन्म इस दुःख एवं क्लेश में से ही तो हुआ है। मानव के वर्तमान दुःखाकुल जीवन से ही संसार के समग्र दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ है। इस तथ्य को कैसे भुलाया जा सकता है कि हमारे जीवन में दुःख एवं क्लेश नहीं हैं। यदि दुःख एवं क्लेश है, तो उससे छूटने का उपाय भी सोचना ही होगा। और यही सब कुछ तो अध्यात्मवादी-दर्शन ने किया है, फिर उसे निराशावादी-दर्शन क्यों कहा जाता है? निराशावादी तो वह तब होता, जबकि वह दुःख और क्लेश की बात तो करता, विलाप एवं रुदन तो करता, किन्तु उसे दूर करने का कोई उपाय न बतलाता। पर बात ऐसी नहीं है। अध्यात्मवादी-दर्शन ने यदि मानव-जीवन के दुःख एवं क्लेशों की ओर संकेत किया है, तो उसने वह मार्ग भी बतलाया है, जिस पर चलकर मनुष्य सर्व प्रकार के दुःखों से विमुक्त हो सकता है। और वह मार्ग है——त्याग, वैराग्य, अनासक्ति और अन्तर्-जीवन का शोधन।

अध्यात्मवादी-दर्शन का कहना है——दुःख है, और दुःख का कारण है। दुःख अकारण नहीं है, क्योंकि जो अकारण होता है, उसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता। किंतु जिसका कारण होता है, यथावसर उसका निराकरण भी अवश्य ही किया जा सकता है। कल्पना कीजिए——किसी को दूध गरम करना है। तब क्या होगा? दूध को पात्र में डालकर अँगीठी पर रख देना होगा और उसके नीचे आग जला देनी होगी। कुछ काल बाद दूध गरम होगा, उसमें उबाल आ जाएगा। दूध का उबलना तब तक चालू रहेगा, जब तक कि उसके नीचे आग जल रही है। नीचे की आग भी जलती रहे और दूध का उबलना बन्द हो जाए, यह कैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता है ? उष्णता का कारण आग है और जब तक वह नीचे जल रही है, तब तक दूध के उबाल और उफान को शान्त करना है, तो उसका उपाय यह नहीं है कि दो-चार पानी के छींटे दे दिए जाए, और बस ! अपितु उसका वास्तविक उपाय यही है, कि नीचे जलने वाली आग को या तो बुझा दिया जाए या उसे नीचे से निकाल दिया जाए। इसी प्रकार अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में अनादि-काल के दुःख को दूर करने का वास्तविक उपाय यही है कि उसे केवल ऊपरी सतह से दूर करने की अपेक्षा उसके मूलकारण का ही उच्छेद कर दिया जाए। मानव-जीवन में दुःख एवं क्लेश की सत्ता एवं स्थिति इस तथ्य एवं सत्य को प्रमाणित करती है कि दुःख का मूल कारण अन्यत्र नहीं, हमारे अन्दर ही है। जब तक उसे दूर नहीं किया जाएगा, तब तक दुःख की ज्वाला कभी शान्त नहीं होगी। अतः अध्यात्मवादी-दर्शन कहता है कि दुःख है। क्योंकि दुःख का कारण है और वह कारण बाहर में नहीं, स्वयं तुम्हारे अन्दर में है। दुःख के कारण का उच्छेद कर देने पर दुःख का उबाल-उफान स्वतः ही शान्त हो जाएगा। तब दुःख का अस्तित्व समाप्त होकर सहज-निर्मल आनन्द का अमृत-सागर हिलोरें लेने लगेगा।

शरीर में रोग होता है, तभी उसका इलाज किया जा सकता है। रोग होगा, तो रोग का इलाज भी अवश्य होगा। यदि कोई रोगी वैद्य के पास आए और वैद्य उसे यह कह दे कि आपके शरीर में कोई रोग नहीं है, तो उसका यह कथन गलत होगा। शरीर में यदि रोग की सत्ता और स्थिति है, तो उसे स्वीकार करने में कोई बुराई नहीं है। शरीर में रोग की सत्ता स्वीकार करने पर भी यदि वैद्य यह कहता है कि रोग तो है, किन्तु उसका इलाज नहीं हो सकता, तो यह भी गलत है। जब रोग है, तब उसका इलाज क्यों नहीं हो सकता ? संसार का कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस तर्क को स्वीकार नहीं कर सकता कि रोग होने पर उसका प्रतिकार न हो सके। रोग को दुस्साध्य भले ही कहा जा सके, किन्तु असाध्य नहीं कहा जा सकता। यदि चिकित्सा के द्वारा रोग का प्रतिकार न किया जा सके, तो संसार में चिकित्सा-शास्त्र का कोई अर्थ ही न रहेगा। विचारक लोग उसे व्यर्थ समझ कर छोड़ बैठेंगे। अस्तु, चिकित्सा-शास्त्र उपयोग एवं प्रयोग के द्वारा रोग का स्वरूप निश्चित करता है, रोगोत्पत्ति का कारण मालूम करता है, रोग को दूर करने का उपाय एवं साधन बतलाता है, वस्तुतः यही उसकी उपयोगिता है। इसी प्रकार अध्यात्म-शास्त्र में यदि कहा जाता कि दुःख तो है, किन्तु उसे दूर नहीं किया जा सकता, तो यह गलत होगा। किसी भी बुद्धिमान के गले यह नकार उतर नहीं सकता। जब दुःख है, तो उसका प्रतिकार क्यों नहीं किया जा सकता ? अध्यात्म-दर्शन कहता है, कि दुःख के प्रतिकार का सबसे सीधा और सरल मार्ग यही है कि दुःख के कारण को दूर किया जाए। भारत का अध्यात्म-साधक दुःख की सत्ता और स्थिति को स्वीकार करके भी उसे दूर करने का प्रयत्न करता है, साधना करता है और उसमें सफलता भी प्राप्त करता है। भारत का अध्यात्मवादी-दर्शन निराशावादी-दर्शन नहीं है, वह शत-प्रतिशत आशावादी है। जीवन को मधुर प्रेरणा देनेवाला दर्शन है। अध्यात्मवादी-दर्शन मानव-मात्र के सामने यह उद्घोषणा करता है कि अपने को समझो और अपने से भिन्न जो पर है, उसे भी समझने का प्रयत्न करो। स्व और पर के विवेक से ही तुम्हारी मुक्ति का भव्य द्वार खुलेगा। शरीर में रोग है, इसे भी स्वीकार करो। और, उसे उचित साधन के द्वारा दूर किया जा सकता है, इस पर भी आस्था रखो। दुःख है, इसे स्वीकार करो, और वह दुःख दूर किया जा सकता है, इस पर भी विश्वास रखो। साधन के द्वारा साध्य को प्राप्त किया जा सकता है, इससे बढ़कर मानव-जीवन का और आशावाद क्या होगा ? भारत का अध्यात्मवादी-दर्शन कहता है कि साधक ! तू अपने वर्तमान जीवन में ही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता है, केवल अपने जीवन की बहिर्मुख दिशा को अन्तर्मुखता में बदलने की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org